गार्गी पुस्तिका दो

सृजनशीलता हमेशा सामाजिक होती है

एजाज अहमद

गार्गी प्रकाशन

मनुष्य की सबसे पहली सर्जनात्मक क्रिया है भाषा को सीखना और उसका व्यवहार करना। बच्चे को जब भूख लगती है, वह रोता है। जब उसे राहत मिलती है, इत्मीनान होता है, तो वह मुस्कराता है। बच्चा अपनी जरूरतें खुद पूरी नहीं कर सकता। यह उसकी जैविक अपूर्णता है। मानवीय अस्तित्व इसी जैविक अपूर्णता से आरम्भ होता है। उसकी जरूरतें दूसरे लोग पूरी करते हैं, जैसे माँ या परिवार के दूसरे लोग। इसी से बच्चे में बोध उत्पन्न होता है। उसका आरम्भिक बोध बुनियादी तौर पर तीन तरह का होता है। पहला, अपनी जरूरत का बोध और उसकी माँग। दूसरा, अपनी जरूरत पूरी करने वालों की पहचान। और तीसरा, भाषा को समझना और उसे सीखकर अपने तौर पर उसका प्रयोग करना। इसी प्रक्रिया में वह शक्लें पहचानना, यानी एक शक्ल और दूसरी शक्ल में फर्क करना शुरू करता है। उसकी जिन्दगी में एक बड़ा वक्त तब आता है, जब वह पहली बार आइने में या किसी और तरह से अपनी शक्ल देखता है और दूसरों से अलग करके अपने-आपको पहचानना शुरू करता है। फिर वह अपने आसपास के लोगों से अपने रिश्तों को समझना शुरू करता है। यह उसका पहला सामाजिक बोध होता है। लेकिन उसकी जिन्दगी में सबसे बड़ी चीज, जो, उसके बोध में बुनियादी फर्क पैदा करती है, तब होती है, जब वह भाषा सीखता है और अपने तौर पर उसका प्रयोग करता है। यह उसकी पहली सर्जनात्मक क्रिया होती है। और भाषा चूँकि बुनियादी तौर पर सामाजिक होती है, इसलिए सृजनशीलता भी बुनियादी तौर पर सामाजिक होती है।

मनुष्य भाषा कैसे सीखता है, इस पर बड़ा विवाद है। कुछ लोग मानते हैं कि यह एक जैविक प्रक्रिया है और दूसरे लोग मानते हैं कि यह एक सामाजिक प्रक्रिया है। मैं समझताा हूँ कि यह एक सामाजिक प्रक्रिया है। बच्चा पैदा होते ही बोलना शुरू नहीं कर देता, बोलना सीखने में उसे लगभग दो साल लगते हैं। वह जन्म से ही उस भाषा से चारों तरफ से घिरा रहता है, जो उसके आसपास के लोग बोलते हैं। वह धीरे-धीरे उसे समझता है और एक के बाद दूसरा शब्द बोलना शुरू करता है। फिर वह वाक्यों के टूटे-फूटे टुकड़े और अन्ततः पूरे वाक्य बोलने लगता है। इस प्रक्रिया में उसे लगभग दो साल लगते हैं। लड़कियाँ लड़कों से एक महीना पहले बोलने लगती हैं, लेकिन लड़का हो या लड़की, उसकी सृजनशीलता भाषा को सीखने और उसका व्यवहार करने से ही शुरू होती है।

इसका अर्थ यह है कि सृजनशीलता केवल कवियों, गायकों, चित्रकारों या किसी और तरह के कलाकारों में ही नहीं, बल्कि सभी मनुष्यों में होती है और वह कोई व्यक्तिगत गुण नहीं, मनुष्य मात्र का गुण है। आप गोरे हैं या काले, हिन्दू हैं या मुसलमान, ऊँची जाति के हैं या नीची जाति के, एक भाषा बोलते हैं या दूसरी, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। आप भाषा

को समाज से लेते हैं और उसे अपने तौर पर इस्तेमाल करते हैं, लेकिन उसका इस्तेमाल आप दूसरों से बात करने या सम्प्रेषण के लिए करते हैं। यह एक सामाजिक क्रिया है और बड़ी सर्जनात्मक क्रिया है। अत: सृजनशीलता के बारे में पहली और बुनियादी बात यह है कि वह हमेशा सामाजिक होती है। भाषा के जरिये आप समाज से अपने सम्बन्ध बनाते हैं – प्यार के, नफरत के, घर के, बाहर के, बौद्धिक, भावनात्मक, शारीरिक, सब तरह के सम्बन्ध – और सम्बन्ध बनाना बड़ा ही सर्जनात्मक कार्य है। आप मन ही मन किसी से प्रेम करते हैं और कहते नहीं हैं, तो उस व्यक्ति से आपका कोई सम्बन्ध नहीं बनता। इसीलिए मैं अपने छात्रों से कहता हूँ कि जो तुमने किताब में पढ़ा है, उस पर बात करो, क्योंकि जो बात तुम कह नहीं सकते, वह तुम सोच भी नहीं सकते। अगर तुम्हारा ख्याल है कि तुमने सोचा तो है, पर तुम उसे कह नहीं पा रहे हो, तो तुम्हारा ख्याल गलत है। असल में तुमने सोचा ही नहीं है। जो तुमने किताब में पढ़ा है, उससे तुम्हारा सम्बन्ध बना ही नहीं है। मतलब यह कि सम्प्रेषण सृजनशीलता के लिए मूलभूत रूप से आवश्यक है।

सृजनशीलता के बारे में एक और बुनियादी बात यह है कि मनुष्य अपनी जरूरतें पशुओं की तरह नहीं, बल्कि मानवीय ढंग से पूरी करता है। हर इनसान चाहता है कि उसकी बुनियादी जरूरतें पूरी हों। उसमें इतनी सलाहियत हो और समाज में इसके लिए इतनी गुंजाइश हो कि उसकी जरूरतें पूरी हो सकें। मगर इतना ही काफी नहीं है कि उसकी जरूरतें जैसे-तैसे पूरी हो जायें। इनसान की खास खूबी यह है कि वह अपनी जरूरतें खूबसूरत ढंग से पूरी करना चाहता है। मसलन, आपको खाना सिर्फ पेट भरने के लिए और घर सिर्फ रहने के लिए नहीं चाहिए। आप चाहते हैं कि भोजन स्वादिष्ट हो, रोज-रोज एक जैसा ही न हो और साफ-सुथरी जगह पर अच्छे माहौल में बैठकर खाया जाये। आप चाहते हैं कि आपका घर सिर्फ रहने की जगह नहीं, बल्कि उसमें कोई खूबसूरती भी हो। इसके लिए आप खाना अलग-अलग तरीकों से पकाते-खाते हैं। जितनी भी बड़ी सभ्यताएँ रही हैं, उनमें खाना पकाना या पाकशास्त्र एक मूलभूत कला रहा है। हिन्दुस्तान में आप देखें, हर सूबे में और उन सूबों के अलग-अलग हिस्सों में आपको अलग-अलग पाक-प्रणालियाँ मिलेंगी। मसलन, गुजरात एक छोटा-सा राज्य है। आजकल वहाँ बर्बरता का नंगा नाच हो रहा है, लेकिन वहाँ की सभ्यता आप देखें कि उस छोटे-से राज्य में पाँच भिन्न प्रकार की पाक-प्रणालियाँ हैं। यानी भोजन से आपको केवल पौष्टिकता या शारीरिक सन्तुष्टि नहीं चाहिए, बल्कि एक तरह की सौन्दर्यात्मक सन्तुष्टि भी चाहिए। इसके लिए आप तरह-तरह के खाने पकाते हैं, तरह-तरह के व्यंजन बनाते हैं, और उनमें आपकी सृजनशीलता व्यक्त होती है। आप अपने घर को सजाते हैं, सुन्दर बनाते हैं, तो उसमें भी अपनी सृजनशीलता को व्यक्त करते हैं।

यह भी इनसान की एक अहम जरूरत होती है, कि वह अपनी बुनियादी जरूरतें सुन्दर ढंग से और अधिकतम सर्जनात्मकता के साथ पूरी करे। गरीब आदमी पर समाज का सबसे बड़ा जुल्म यह होता है कि उसे अपनी जरूरतों को सुन्दर ढंग से पूरा करने का मौका नहीं मिलता। गरीबों को जीवन के सौन्दर्यात्मक आयाम से वंचित कर दिया जाता है। फिर भी उनकी

कोशिश होती है कि वे किसी भी तरह से अपने जीवन को सुन्दर बनायें। मैं फिलीपींस गया था, तो वहाँ 'बचाओ' नामक एक कबीले का जीवन मैंने देखा। इन लोगों को धरती पर घर बनाने की इजाजत नहीं है, इसलिए वे समुद्र के किनारे पर पानी के अन्दर लम्बे-लम्बे बाँस खड़े करके उनके ऊपर अपना घर बनाकर रहते हैं। उनके घरों के नीचे का पानी इतना गन्दा होता है, इतनी गलाजत उसमें होती है कि मैं बयान नहीं कर सकता। हम-आप जैसे लोग उस पानी में से किश्ती में बैठकर गुजरें, तो आँखें बन्द करके गुजरें। उन लोगों को पीने का पानी लाने के लिए दो-दो मील जाना होता है और वे उस गलाजत से भरे पानी में बने हुए घरों में रहते हैं। लेकिन मैंने देखा कि उन्होंने अपने घरों में छोटे-छोटे कनस्तरों में मिट्टी डालकर फूल उगाये हुए हैं। इस तरह वे अपनी सौन्दर्यात्मक आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। यह भी सृजनशीलता का एक रूप है।

इनसान के लिए काम जरूरी है, लेकिन खेल भी जरूरी है। अब, यह जो खेल है, दो तरह का हो सकता है। एक तो जीवन की जरूरतें पूरी करने के लिए वास्तविक भौतिक पदार्थों से खेलना, जैसे हम जो खाना पकाते हैं, कई तरह से पका सकते हैं और उसमें कई तरह के नये प्रयोग भी कर सकते हैं। दूसरे, जीवन की जरूरतों से परे जाकर खेलना, जैसे स्वतंत्रतापूर्वक शब्दों, स्वरों, रंगों और रेखाओं से खेलना। लेकिन खेल मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है, क्योंकि उसी में उसकी सृजनशीलता होती है। वर्ग-विभक्त समाज में सृजनशीलता के दो रूप होते हैं – श्रम की सृजनशीलता और श्रम से परे की सृजनशीलता। मानव जीवन का उद्देश्य है आवश्यकता से स्वतंत्रता की ओर जाना। यह श्रम की सृजनशीलता से श्रम के परे की सृजनशीलता की ओर जाना है। मनुष्य अपनी स्वतंत्रता से कभी विमुख या विरत होना नहीं चाहता। वह इसको स्थगित भी करना नहीं चाहता। वह इसकी दिशा में निरंतर आगे बढ़ना चाहता है। इसलिए श्रम करने को विवश होते हुए भी वह उसमें जहाँ तक हो सके, स्वतंत्रतापूर्वक सृजनशील होने की कोशिश करता है। उसकी यह सृजनशीलता जीवन के पुनर्सृजन के लिए किये जाने वाले कार्यों में दिखायी पड़ती है, जैसे खाना पकाने में, कपड़े धोने में, अपने घर को सजाने में, बच्चों को पैदा करने और उन्हें अच्छी तरह पाल-पोसकर इनसान बनाने में। जीवन की परिस्थितियाँ उसे जितनी भी स्वतंत्रता देती हैं, उसका इस्तेमाल वह सृजनशील होने में करता है। मसलन, एक गरीब आदमी पेट भरने के लिए जो खाना पकाता है, वह हमेशा एक जैसा नहीं होता। जैसे सुबह एक दाल, शाम को दूसरी दाल; या एक दिन एक सब्जी, दूसरे दिन दूसरी सब्जी; या मांस-मछली को एक दिन एक तरह से पकाना, दूसरे दिन दूसरी तरह से पकाना। इसमें जो आनन्द है, वह दरअसल अपनी आजादी का इस्तेमाल करने और सृजनशील होने का आनन्द है।

आजादी वह नहीं है, जो भविष्य में है और न जाने कब आयेगी। आजादी वह है, जिसकी कोशिश आप हर वक्त कर रहे होते हैं। आप उसके लिए समय निकालते हैं, उसके लिए बहुत-से जतन करते हैं। आप कोशिश करते हैं कि जिन्दगी में आपको जो कुछ मयस्सर है, उसी में से जो कुछ करें, जो कुछ बनायें, उसमें एक खूबसूरती हो। यही सृजनशीलता

है और इसके लिए इनसान हर समय जद्दोजहद कर रहा होता है। कारण यह कि इस दौरान वह स्वयं को अपूर्ण समझता है और अपनी पूर्णता के लिए पूर्णतर मनुष्य बनने का प्रयास कर रहा होता है। इसके लिए कभी वह पढ़ता है, कभी चित्र बनाता है, कभी कविता लिखता है, कभी गीत गाता है तो कभी सिर्फ टहलता है जंगल में। स्वयं को पूर्णतर मनुष्य बनाने वाले ये काम श्रम से बंधे हुए नहीं होते, जीवन के पुनर्सृजन की परिस्थितियों से बंधे हुए नहीं होते। इसलिए उनमें जो सृजनशीलता होती है वह श्रम की सृजनशीलता से भिन्न श्रम से परे की सृजनशीलता होती है।

पूँजीवादी व्यवस्था में काम के वक्त और फुर्सत के वक्त में फर्क किया जाता है। काम और आराम की जिन्दगी को अलग-अलग माना जाता है। इसी तरह जीवन को अलग-अलग माना जाता है। यह माना जाता है कि काम के वक्त आप काम करते हैं और फुर्सत के वक्त में ही सृजनशील हो सकते हैं। व्यवस्था मानो आपसे ये कहती है कि आप इतने घंटे जो घनघोर मेहनत करते हैं, उसके जरिये आपको इतने घंटे की फुर्सत मिलती है, जिसमें आप अपने तौर पर कुछ कर पायें। यह वर्गीय समाज व्यवस्था की जड़ है, बल्कि रूह है, और इसकी अभिव्यक्ति विचारधारा में इस तरह होती है कि जीवन अलग है, कला अलग है। अर्थात् जीवन में सृजनशीलता नहीं है, कला में सृजनशीलता है। फिर इसी से यह बात निकलती है कि श्रम करने वाला सृजनशील नहीं होता, फुर्सत में रहने वाला ही सृजनशील हो सकता है। यानी श्रमिक वर्ग नहीं, शोषक वर्ग ही सृजनशील होता है। आगे चलकर फिर इसी में से यह बात निकलती है कि कला का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वह इनसानों की जिन्दगी को सुधारने-संवारने, बदलने और बेहतर बनाने जैसे किसी उद्देश्य के लिए नहीं होती, बल्कि फुर्सत में रहने वाले वर्ग के आनन्द के लिए होती है।

इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था सृजनशीलता की विरोधी होती है। वह इस बात को नहीं मानती कि सृजनशीलता हर इनसान में होती है और इनसान अपने जीवन के पुनर्सृजन के लिए जो श्रम करता है, उसमें भी सृजनशील होता है। सृजनशील वह कब नहीं होता? तभी, जब उसे मन मारकर या जबर्दस्ती काम करना पड़ता है, या जब कोई उससे यह कहता है कि तुम अपनी मर्जी से कुछ नहीं कर सकते, हम जैसा करने को कहते हैं, वैसा करो; नहीं तो हम तुम्हारी तनख्वाह काट लेंगे। इस तरह दूसरे की सृजनशीलता को कम करना, उसके लिए औकात मुकर्रर करना, उसके लिए अलग जगह बनाना – कि यहाँ तुम सृजनशील हो सकते हो, वहाँ नहीं – यह सब सामाजिक श्रम विभाजन है, जिसका नतीजा यह होता है कि इनसान बहुत-से काम 'रूटीन' की तरह बेमन से या मन मारकर करने लगता है, जिनको करने में न उसे कोई आजादी होती है और न कोई आनन्द मिलता है।

वर्ग-विभक्त समाज में सृजनशीलता को वर्गीय दृष्टि से देखा जाता है और उसे कुछ विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्तियों का खास गुण माना जाता है। लेकिन वह प्रतिभा कहाँ से आती है? वह समाज से आती है। मसलन, शायरी या किस्सागोई का सम्बन्ध भाषा से है और भाषा कोई व्यक्ति नहीं बनाता। इनसान भाषा सीखना शुरू करता है अपनी जरूरतें पूरी करने के

लिए। फिर वह देखता है कि बोलने की कोई तमीज होती है, कोई तरीका होता है। जैसे फलाँ आदमी बहुत अच्छी भाषा बोलता है और फलाँ आदमी लट्ठमार ढंग से बोलता है। इस तरह वह अपनी भाषा का परिष्कार करता है। शायरी क्या है? परिष्कृत भाषा में बोलना ही शायरी है। लेकिन उसके पीछे एक पूरी रिवायत होती है, जिसे आप अपने अन्दर समोकर इस तरह अपनी बात कह सकें कि वह शायरी कहलाये और लोग उसकी कद्र करें। कद्र या साहित्यिक मूल्यांकन क्या है? यही कि आपकी बात में जो साहित्यिक मूल्य है उसे आँका जाये। और साहित्यिक मूल्य एक मुद्दत से जो भाषागत मूल्य संचित होते रहते हैं, उन्हीं में से पैदा होता है।

अब सवाल पैदा होता है कि सृजनशीलता में जो नवीनता का तत्त्व होता है, वह क्या है? इस पर मेरा कहना यह है कि कुछ नया करना, अपने काम को नये तरीके से करना, यह सृजनशीलता में अन्तर्निहित है। मैं पहले फोटोग्राफी करता था। फोटोग्राफी का मतलब यह नहीं है कि आपने कैमरे से तस्वीरें खींच लीं और फिल्म किसी को देकर प्रिंट निकलवा लिये। असली फोटोग्राफी फोटो खींचते वक्त नहीं, बल्कि डार्करूम में नेगेटिव से तस्वीर बनाते समय होती है। कैमरा तो फोटोग्राफर के लिए किसी लेखक की उस नोटबुक की तरह है, जिसमें वह चलते-चलते कोई बात नोट कर लेता है और बाद में उस बात को रचना का रूप देता है। मैं यह करता था कि नेगेटिव को तरह-तरह से प्रिंट करके देखता था। फिर देखता था कि इस प्रिंट में यह बात अच्छी है, उस प्रिंट में वह बात अच्छी है, और उनको मिलाकर एक नया प्रिंट बनाता था। नेगेटिव तो एक 'फिक्स्ड' चीज है। वह तो एक बार आपने जो ले लिया, वही रहेगा। आपकी सृजनशीलता इसमें है कि आप उसमें से क्या निकालते हैं या क्या बनाते हैं। इसी प्रक्रिया में नयापन पैदा होता है। लेकिन नयेपन का एक और महत्त्वपूर्ण आयाम यह है कि जो काम आप कर रहे हैं, उसकी एक परम्परा है, जिसमें आपको कुछ नया करना है। मसलन, फोटोग्राफी की एक बहुत पुरानी रिवायत है, जिसमें मुख्तलिफ फोटोग्राफर्स ने बहुत कुछ किया है और मैंने उसमें से बहुत कुछ देखा है। जो प्रिंट मैं अपने नेगेटिव से बना रहा हूँ, वह मुझे अच्छा लग रहा है या नहीं, या उसमें क्या और करने से वह और ज्यादा अच्छा रहेगा, वह तमीज मुझमें फोटोग्राफी की उस रिवायत को अपने अन्दर समा लेने पर ही पैदा हो सकती है। जब मुझे लगता है कि मैंने कुछ नया किया है, या कोई नयी चीज ईजाद की है, तो उसके पीछे एक बहुत बड़ी रिवायत होती है।

मैंने कहीं यह लिखा है कि जो लोग आधुनिकतावाद को बिल्कुल नयी चीज समझते हैं, उन्हें यथार्थवाद की परम्परा का पता नहीं है। मसलन, काफ्का बड़ा आधुनिकतावादी लेखक है और उसकी कहानी 'मेटामोर्फोसिस' बड़ी आधुनिकतावादी कहानी मानी जाती है। लेकिन उस कहानी में सिर्फ एक बात ऐसी है, जो अविश्वसनीय है – कि एक सुबह वह सोकर उठा, तो उसने खुद को एक कीड़े के रूप में पाया – लेकिन एक बार आप इस अविश्वसनीय बात पर विश्वास कर लें, तो पायेंगे कि पूरी कहानी यथार्थवादी ढंग से लिखी हुई है। इसलिए जब हम नयेपन की बात करें, तो एक तो हमें यह देखना चाहिए कि उसके पीछे की रिवायत क्या है। दूसरे, हमें यह भी देखना चाहिए कि नयी चीज में नये तत्त्व

कहाँ-कहाँ से आये हैं। वे तत्त्व दूसरी कलाओं से आ सकते हैं, विज्ञानों से आ सकते हैं, नये तकनीकी आविष्कारों के जरिये आ सकते हैं, या और भी किन्हीं चीजों से आ सकते हैं। उदाहरण के लिए, जब मनोविश्लेषण का सिद्धांत आया और उसमें चेतन-अवचेतन मन का फर्क करते हुए यह बताया गया कि मनुष्य सचेत रूप से जो सोचता है, वह तो उसके सोच, समझ और अहसास का बहुत छोटा हिस्सा होता है, बड़ा हिस्सा तो उसके अवचेतन में चल रहा होता है, तब आख्यान की यथार्थवादी पद्धति के लिए संकट पैदा हो गया और अंग्रेजी कथासाहित्य में अनेक आधुनिकतावादी रूप सामने आये। इसका मतलब है कि नयापन किसी चीज में अपने क्षेत्र की सृजनशीलता की परम्परा से ही नहीं, बल्कि अन्य क्षेत्रों की सृजनशीलता के जरिये भी आ सकता है। विज्ञान में कोई नयी खोज हो जाती है, या किसी चीज को बनाने की कोई नयी तकनीक निकल जाती है, तो उससे भी साहित्य और कला में संकट पैदा हो सकता है और नये-नये कलारूप सामने आ सकते हैं। मसलन, कैमरे का आविष्कार हो जाने पर यथार्थवादी चित्रकला या पोर्ट्रेट बनाने की कला पर सवालिया निशान लग गया और उससे चित्रकला मे कई आधुनिकतावादी चीजें आयीं। आइंस्टाइन ने सापेक्षता का सिद्धांत दिया, तो रेनेसाँ काल के परिप्रेक्ष्य के लिए संकट पैदा हो गया। चीजों को देखने का ढंग ही बदल गया। उससे चित्रकला में क्यूबिज्म और दूसरी कई नयी चीजें पैदा हुईं। तो, मेरा कहना यह है कि जब हम सृजनशीलता के सन्दर्भ में नवीनता की बात करें, तो एक तो अपने क्षेत्र की परम्परा को ध्यान में रखें और दूसरे अन्य क्षेत्रों की सृजनशीलता को भी ध्यान में रखें, जो हमारे क्षेत्र की सृजनशीलता को प्रभावित कर रही है। इस तरह देखेंगे, तो आप पायेंगें कि सर्वथा नयी या शुद्ध नयेपन जैसी कोई चीज नहीं होती। अगर होगी, तो वह सम्प्रेषित ही नहीं हो पायेगी। जबकि सृजनशीलता बुनियादी तौर पर सम्प्रेषण का मामला है।

अब, सम्प्रेषण कई तरह का होता है। इनसान जबसे पैदा होता है, तभी से सम्प्रेषण शुरू हो जाता है। शुरू के कुछ महीनों तक वह अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए जो सम्प्रेषण करता है, उसे हम सम्प्रेषण का जैविक रूप से निर्धारित पक्ष कह सकते हैं, उसके बाद जब वह भाषा सीखने लगता है और भाषा के जरिये सम्प्रेषण करने लगता है, तब हम उसे सृजनशील सम्प्रेषण कह सकते हैं। और, जैसाकि मैंने पहले कहा, यह सृजनशीलता सभी मनुष्यों में होती है, जो आगे चलकर ज्ञान, विज्ञान, तकनीक, साहित्य, कला आदि विभिन्न क्षेत्रों में अपने परिपक्व रूपों में दिखायी पड़ती है।

कुछ लोग सिर्फ कलात्मक चीजों में ही सृजनशीलता देखते हैं और कला में भी 'हाई आर्ट' और 'फोक आर्ट' जैसे फर्क करते हैं। ऐसे लोग गरीब, अनपढ़, देहाती या आदिवासी लोगों की कला को नीची नजर से देखते हैं। यानी गरीब आदमी जो करे, अपने लिए करे, वह 'फोक आर्ट' हुआ। लेकिन वही गरीब आदमी अगर आपके सामने आकर गिटार बजाने लगे, तो वह 'हाई आर्ट' हो गया! असल बात यह है कि जिस वर्ग के पास फुर्सत होती है, वह गरीब लोगों के द्वारा आविष्कृत और सदियों से तरह-तरह से इस्तेमाल किये जाने वाले कलात्मक रूपों के ही तत्वों को विकसित करता है और फिर उन्हें बाजार में बेचता है। इस

तरह से विकसित करके बेचे जाने वाले बहुत-से लोकगीत, लोकसंगीत और लोकनृत्य आपको व्यावसायिक सिनेमा में दिखायी देते हैं। कई चीजें विकसित किये बिना ही सीधे बाजार में ले आयी जाती हैं और भारत की खास परम्परागत चीज बताकर विदेशी पर्यटकों को बेची जाती हैं। जैसे बिहार में मधुबनी की गरीब औरतों के द्वारा बनायी जाने वाली पेंटिंग्स या राजस्थान और गुजरात में पहनने के लिए बनाये जाने वाले खास तरह के कपड़े। उन्हें बेचने के लिए कहना भी पड़ता है कि साहब, यह अच्छी चीज है, बिल्कुल ही एक अलग चीज है, लेकिन वैसे अपनी 'हाई आर्ट' की तुलना में वह 'लो आर्ट' है, उसमें सृजनशीलता नहीं है!

इस तरह के लोग कला और सृजनशीलता को रहस्यमय बनाने की भी कोशिश करते हैं। वे इस बात को छिपाते हैं कि सृजनशीलता सभी मनुष्यों में होती है। कहते हैं कि यह तो किसी-किसी में होती है और क्यों होती है, किसी को नहीं मालूम! धर्म का धंधा करने वाले लोग कुछ चीजों को 'सेक्रेड' (पवित्र) बनाने के लिए भी रहस्यमय बनाते हैं, जैसे कुरआन शरीफ के बारे में मुसलमान कहते हैं कि यह अल्लाताला की देन है, फरिश्ते आकर उसको लिखवा गये थे। इस तरह आम दुनियावी चीजों को पवित्र बनाने के लिए इस किस्म के अफसाने गढ़े जाते हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि रहस्य कुछ होता ही नहीं। रहस्य तो होता है। मनुष्य स्वयं एक रहस्य है। भाषा स्वयं एक रहस्य है। अगला फिकरा मेरी जबान से क्या निकलेगा, मुझे नहीं मालूम। या, हम लेखकों का यह सामान्य अनुभव है कि हम कुछ लिखना चाहते हैं, हमारे पास कहने के लिए कई बातें हैं, लेकिन यह नहीं सूझ रहा है कि कहाँ से शुरू करें। और अक्सर ये होता है कि आप कहीं जा रहे हैं या कोई और काम कर रहे हैं कि अचानक आपको सूझ जाता है कि यहाँ से शुरू किया जाये। इसे आप रहस्य कह सकते हैं। इसी तरह, जब आप लिखना शुरू करते हैं, तो लिखते चले जाते हैं; लेकिन उस वक्त भी आपको पता नहीं होता कि अगला वाक्य क्या होगा। यह भी रहस्य है। लेकिन सवाल यह है कि हम इसको रहस्य बनाये रखना चाहते हैं या इसको समझना और खोलना चाहते हैं। समझना चाहेंगे, तो बात समझ में आ भी जायेगी। वह वो कि आप जो अगला वाक्य बोलने या लिखने वाले हैं, वह आपको मालूम नहीं है, लेकिन वह वाक्य पिछले वाक्य से, या पहले कही जा चुकी बात से, जुड़ा हुआ होगा और उसका एक आन्तरिक तर्क होगा। डब्ल्यू. एच. ऑडेन ने एक बार कहा था कि ''ओनली दि फर्स्ट लाइन इज इंस्पिरेशन, ऑल दि रेस्ट इज हार्ड वर्क''। जरूरी नहीं कि वह लाइन कविता की पहली ही लाइन हो, वह पाँचवीं या सत्तरवीं भी हो सकती है, लेकिन वह एकदम अचानक सूझती है और वही कविता की प्रेरणा है, बाकी सब मशक्कत है।

प्रेरणा किसी भी चीज से मिल सकती है – किसी फूल से, किसी सुन्दर स्त्री से, किसी गरीब आदमी से या कम्युनिस्ट पार्टी से – लेकिन सवाल यह है कि उसका हम क्या करते हैं। हर इनसान सृजनशील है, इसलिए हर इनसान प्रेरित हो सकता है। मगर इसमें एक बात तो यह है कि उस प्रेरणा से कलात्मक रचना करने का अवसर किसको कितना मिलता है।

जिस गरीब लेखक को दिन-रात रोजी-रोटी और घर-गृहस्थी के झंझटों में ही पड़े रहना पड़ता हो, वह प्रेरित होकर भी क्या लिख पायेगा? दूसरी बात यह है कि प्रेरित होने के बाद हम कुछ लिखने, रचने या बनाने के लिए मशक्कत कितनी करते हैं। फिर, कुछ लोगों में ऐसी सृजनशीलता भी होती है कि उन्हें किसी बाहरी प्रेरणा की जरूरत ही नहीं होती। किस्सा है कि मीर तकी मीर दिलली से भागे और लखनऊ पहुँचे, तो इंशा अल्ला खाँ ने, जो वहाँ बहुत ऊँचे रुतबे पर थे, नवाब साहब से कहकर उन्हें एक हवेली दिलवायी। हवेली में एक कमरा खास तौर से सजाया गया कि यहाँ बैठकर मीर साहब अपना दिन गुजारेंगे और पढ़ेंगे-लिखेंगे। मीर साहब वहाँ रहने लगे। कुछ दिन बाद इंशा साहब आये। पूछा कि कैसा लगा आपको? मीर साहब ने कहा कि अच्छा है। तभी इंशा ने देखा कि मीर के लिए जिस खास कमरे का इंतजाम किया गया था, उसका दरवाजा तो अन्दर से बन्द है। इंशा ने तो वह कमरा मीर के लिए खास तौर पर इसलिए मुकर्रर किया था कि ये दरवाजा खोलेंगे, तो बाहर चमन दिखायी पड़ेगा और वहाँ के फूल-पत्ते देखकर ये अपनी शेरो-शायरी फरमायेंगे। इंशा ने कहा कि मीर साहब आपने तो चमन में खुलने वाले दरवाजे की कुंडी बन्द की हुई है। तो मीर साहब ने कहा – अपने अन्दर ऐसा चमन खिला हुआ है, भाई, कि मैं और चमन देखकर क्या करूँगा?

कई लोग सृजन-प्रक्रिया के रहस्यों की और फिर उन्हें समझने-समझाने की बात करते हैं। मैं कहता हूँ कि सृजनशीलता हर इनसान में होती है और वह एक आजीवन प्रक्रिया है, इसलिए सृजनशीलता की व्याख्या करना जरूरी नहीं है। जरूरी है सृजनशीलता के अभाव की व्याख्या करना। जरूरत है इस सवाल का जवाब देने की कि इनसान, जो बुनियादी तौर पर सृजनशील है, सृजनशील क्यों नहीं रह पा रहा है? उसे कौन सृजनशील होने से रोक रहा है? या, वे कौन-सी चीजें हैं, जो उसकी सृजनशीलता में बाधक हैं? और, इनसान को सृजनशील कैसे बनाया जा सकता है? ये बहुत अहम सवाल हैं, क्योंकि इनसे कोरे कला-सिद्धांत नहीं निकलते, बल्कि इनसे राजनीति निकलती है, नैतिकता निकलती है और निकलती है वह कल्पना, जिसके सहारे हम भविष्य के बारे में सोच सकते हैं और एक ऐसी जिन्दगी के सपने देख सकते हैं जो आज की जिन्दगी से बेहतर होगी, ज्यादा खूबसूरत होगी, ज्यादा सन्तुष्ट करने वाली होगी और जिसे आप एक इनसान के तौर पर बिना किसी अपराध-बोध के दूसरों के साथ जी सकेंगे। तब हम भविष्य की उस सृजनशीलता के बारे में भी सोच सकेंगे, जो व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक सृजनशीलता होगी और जिसमें से जिन्दगी जीने के नये और बेहतर तरीके निकलेंगे।

भविष्य की बात निकली है, तो यह भी देख लेना चाहिए कि सृजनशीलता का समय से क्या सम्बन्ध है। जो लोग उसका सम्बन्ध वर्तमान से जोड़ते हैं, उनको मैं कभी समझ नहीं पाता, क्योंकि वर्तमान तो केवल एक क्षण है, जो या तो गुजर गया है या गुजरने वाला है। वह समय का सबसे छोटा अंश होता है। इसलिए मेरी समझ में कभी यह नहीं आता कि अतीत और भविष्य अलग कैसे हो सकते हैं, क्योंकि उन दोनों के बीच में जो क्षण है, वह या तो अतीत का है या भविष्य का। अपने-आप में तो वह कुछ है ही नहीं। फिर वर्तमान को आप

कई तरीकों से देखते हैं। कई लोग कहते हैं, यह जो गुजर रहा है, ऐतिहासिक क्षण है; लेकिन मार्क्सवादी इस बात को नहीं मानते; क्योंकि मार्क्स के मुताबिक इतिहास तो अभी शुरू ही नहीं हुआ, वह तो तब शुरू होगा, जब इस वर्गीय व्यवस्था से आजादी मिलेगी। तब तक तो यह प्रि-हिस्टरी है; इतिहास के शुरू होने से पहले की अवस्था है; क्योंकि मनुष्यों का इतिहास उत्पीड़न का इतिहास नहीं, आजादी का इतिहास होगा। अब इससे बात यह निकलती है कि जिस चीज को आप अतीत कहते हैं, वह तो एक ऐसी चीज है, जिसे आपको पीछे छोड़ना है – कि यह खत्म हो और आपका इतिहास शुरू हो। आप मार्क्स पर भी न जाइए, हेगेल का एक वाक्य बहुत सादा-सा, जो मैं बहुत लोगों को बार-बार सुनाता हूँ कि ''दि प्रॉब्लम विद हिस्टरी इज दैट इट ओनली गोज फॉरवर्ड।'' यानी इतिहास सिर्फ आगे जाता है, पीछे की तरफ जाता ही नहीं। लोग उसे पीछे की तरफ ले जाना भी चाहें, तो वह नहीं होगा, जो आप चाहते हैं। मसलन आप इतिहास को पीछे ले जाकर रामराज्य लाना चाहें, तो वह रामराज्य नहीं होगा, आर.एस.एस. राज्य होगा। इतिहास को या तो पिटे हुए लोग दोहराते हैं या फासिस्ट लोग। उसे या तो वे दोहराते हैं, जो मजबूर होते हैं, या फिर वे जो दूसरों को मजबूर रखना चाहते हैं। लेकिन जो प्रगतिशील लोग यह सोचते हैं कि उनका रुख अतीत की तरफ है और हमारा भविष्य की तरफ, उनसे मैं सहमत नहीं; क्योंकि जिसे अतीत याद न रहे, वह भविष्य नहीं बना सकता। जिसे अतीत के जख्म याद नहीं, वह भविष्य की सेहतमंद जिन्दगी के ख्वाब नहीं देख सकता। इतिहास भविष्य की सुन्दर कल्पनाओं से नहीं बनता, वह इनसानी गुस्से से बनता है और उस गुस्से का सम्बन्ध अतीत से होता है।

दूसरी बात यह है कि अतीत में ही ऐसी बहुत-सी चीजें हैं, जो इनसान ने बड़ी मेहनत और सदियों की कोशिशों से बनायी हैं। अगर आप उनको अपनी पूँजी नहीं बनायेंगे, तो भविष्य कैसे बनायेंगे? समय कोई स्लेट तो है नहीं कि आपने उसको साफ किया और लिखना शुरू कर दिया। यह आप नहीं कर सकते, क्योंकि समय वह स्लेट है, जिस पर पहले से बहुत कुछ लिखा हुआ है और उसी पर आगे आपको लिखना है। अब यह आप पर है कि अतीत की चीजों में से क्या चुनें, क्या छोड़ें और अतीत को किस नजर से देखें। मसलन, कुछ लोग अतीत के आधार पर भारतीय परम्परा की बात करते हैं, रामराज्य वगैरह की बात करते हैं, लेकिन वे समझते हैं कि अतीत में जो कुछ किया, ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने यानि उच्च वर्ग के या शासक वर्ग के लोगों ने किया। मेरा कहना यह है कि साहित्य हो, कला हो, विज्ञान हो, तकनीक हो, स्थापत्य हो – सबके इतिहास श्रम के इतिहास हैं। लेकिन वर्गीय व्यवस्था का सबसे बड़ा कारनामा यह है कि जो चीज मेहनत ने पैदा की है, सदियों की मेहनत ने, उसको किसी एक व्यक्ति या एक राजा या एक जाति से जोड़ दिया है – कि देखिए, यह ग्रंथ फलाँ ने लिखा, यह ईजाद फलाँ ने की, यह इमारत फलाँ ने बनवायी। लेकिन वे सब चीजें आम लोगों की सदियों की मेहनत से पैदा हुई हैं। हम उनका श्रेय उच्चवर्ग के लोगों को नहीं दे सकते। उच्चवर्ग के लोगों की सब कला-वला असल में मेहनतकश लोगों की सृजनशीलता पर निर्भर करती है।

अत: आप अगर इतिहास बनाना चाहते हैं, तो वह भविष्य की कल्पनाओं से नहीं बनेगा, बल्कि अतीत की स्मृतियों से बनेगा। वह अतीत की उपलब्धियों की स्मृतियों से बनेगा, और उसे बनाते समय आपको याद रखना पड़ेगा कि मेहनतकश लोगों पर अत्याचार हुए हैं और मेहनतकश लोगों ने ही वे उपलब्धियाँ की हैं, जिनके आधार पर भविष्य का निर्माण होगा। अतीत के उन अत्याचारों को याद करके आपको गुस्सा नहीं आता और मेहनतकश लोगों की उपलब्धियों को याद करके आपको गर्व नहीं होता, तो आप कोई इतिहास नहीं बना सकते।

लेकिन स्मृति के बारे में एक बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि वह हमें सृजनशील तो बनाती है, इतिहास बनाने में हमारी मदद भी करती है, लेकिन हर तरह की स्मृति नहीं, सिर्फ वह स्मृति, जो वास्तविक, तर्कसंगत और ऐतिहासिक हो। इतिहास में भी सब कुछ हमारे काम का नहीं होता। उसमें बहुत कुछ ऐसा है, जो मुर्दा हो चुका है और भविष्य को बनाने में उसका कोई उपयोग नहीं है। लेकिन उसमें बहुत कुछ ऐसा भी है, जो जीवंत है और हमारे लिए उपयोगी है, उपयोगी इस अर्थ में कि वह हमें सृजनशील बनाता है, इतिहास बनाने में हमारी मदद करता है और भविष्य का निर्माण करने में हमें समर्थ बनाता है।

कुछ लोग सवाल उठाते हैं कि स्मृति, जो हमें सृजनशील बनाती है, व्यक्तिगत होती है या सामूहिक। यानी क्या स्मृति को नस्ल, धर्म, लिंग या राष्ट्र जैसी चीजों से जोड़ा जा सकता है? मसलन, गोरों की स्मृति अलग और कालों की अलग? हिन्दुओं की अलग और मुसलमानों की अलग? सवर्णों की अलग और दलितों की अलग? मेरा कहना यह है कि सामूहिक स्मृति तो हो सकती है, जैसे उत्पीड़कों की अलग, लेकिन उसे नस्ल, धर्म, लिंग, जाति और राष्ट्र जैसी चीजों से नहीं जोड़ा जाना चाहिए। जहाँ तक नस्ल का सवाल है विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि नस्ल जैसी कोई चीज नहीं होती। मैंने अभी-अभी एक किताब पढ़ी है 'अगेंस्ट रेस' जिसका लेखक कहने को एक काला आदमी है, लेकिन वह कहता है कि काले आदमी जैसी कोई चीज नहीं होती। फिर अफ्रीका के काले अलग हैं, अमेरिका के भी सब काले एक जैसे नहीं हैं। इसी तरह धर्म, राष्ट्र और लिंग की बात है। हिन्दू सारी दुनिया में रहते हैं, लेकिन अलग-अलग देशों में रहने वाले हिन्दुओं की कोई एक सामूहिक स्मृति कैसे हो सकती है? या औरतों को लीजिए, भारत की औरतों का इतिहास अलग है, अमेरिका की औरतों का इतिहास अलग है। दुनिया भर की औरतों की एक सामूहिक स्मृति कैसे हो सकती है? दरअसल सामूहिक स्मृति की अवधारणा एक फासिस्ट अवधारणा है।

इस सिलसिले में मुझे एक और बात कहनी है। वह यह कि सामूहिकता की अवधारणा को ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझना चाहिए। पुराने परम्परागत समाज में या प्राक्-पूँजीवादी समाज में और आधुनिक समाज में एक बुनियादी फर्क है। आधुनिक समाज में सामूहिकता आपका अपना चुनाव है, जैसे आप किसी ट्रेड-यूनियन के, या पार्टी के, या लेखकों – कलाकारों के किसी संगठन के सदस्य बनते हैं, तो आपकी यह सामूहिकता आपका अपना चुनाव है, जबकि वर्ण और जाति जैसी सामूहिकताएं आपके जन्म से संबंधित होती हैं। आप गोरे पैदा हुए या काले, ऊँची जाति में पैदा हुए या नीची जाति में, औरत पैदा हुए या मर्द

– इस पर आपका कोई बस नहीं था। यह आपकी अपनी 'च्वाइस' नहीं थी। आधुनिक समाज की सामूहिकता 'कलेक्टिविटी ऑफ च्वाइस' है, जबकि पुराने पिछड़े हुए, प्रतिक्रियावादी और फासिस्ट सोच वालों के लिए वह 'प्रि-गिवन' है, पूर्वप्रदत्त है। मसलन, मुझे देखिए। मैं मुसलमानों के घर में पैदा हुआ, लेकिन मैं खुद को न मुसलमान मानता हूँ न हिन्दू। मैं कहता हूँ कि मै एक आधुनिक धार्मनिरपेक्ष भारत का नागरिक हूँ। आप हिन्दू हैं, अपने घर में बैठिए; आप मुसलमान हैं, अपने घर में बैठिए; बड़ी खुशी की बात है, लेकिन आप मुझे मजबूर नहीं कर सकते कि मैं खुद को हिन्दू मानूँ या मुसलमान! इसलिए जो लोग हिन्दू-मुसलमान जैसी सामूहिकताओं की बातें करते हैं, उनकी बातों पर मुझे एतराज है। मैं कहता हूँ कि श्रमिक वर्ग की भी एक सामूहिक स्मृति है। दुनिया में एक चीज, जो हजारों सालों से नहीं बदली है, वह यह है कि दुनिया की भारी अक्सरियत (बहुसंख्या) सुबह से शाम तक कमरतोड़ मेहनत करती है और उसकी सामूहिक स्मृतियाँ हैं – शोषण की, दमन की, उत्पीड़न की, अन्यायों की, अत्याचारों की स्मृतियाँ। और ऐसे लोगों में हिन्दू-मुसलमान, गोरे काले, स्त्री-पुरूष, सब तरह के लोग हैं।

कुछ लोग सृजनशीलता के सन्दर्भ में वर्ण या जाति के विशिष्ट अनुभव का सवाल उठाते हैं। मसलन, नारीवादी या दलितवादी लोगों में से कुछ लेखक यह कहते पाये जाते हैं कि औरत ही औरत के बारे में प्रामाणिक लेखन कर सकती है, या दलित ही दलित के बारे में सही ढंग से लिख सकता है, क्योंकि औरत या दलित होने का उनका जो अनुभव है, किसी और को नहीं हो सकता। इस पर मेरा कहना यह है कि इस तरह की बाड़ेबन्दी, कम से कम साहित्य में, बिलकुल गलत है। मैंने अमेरिका में यूरोपीय साहित्य पढ़ाया है, यानी गोरों को गोरों का साहित्य पढ़ाया है। मुझसे कभी किसी ने नहीं कहा कि यह तुम्हारी समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि तुम गोरे नहीं हो। अगर कोई ऐसा कहे, तो मैं उसके मुँह पर चाँटा मारूँगा और कहूँगा कि मैं तुम्हारे बाप-दादा का साहित्य तुम्हें इसलिए पढ़ा रहा हूँ कि मैंने उसे पढ़ा है, सीखा है, मेहनत की है साहित्य में यह नहीं हो सकता कि जिसका जो अनुभव है, वही उसको समझ सकता हो। वरना आज का कोई आदमी अठारहवीं सदी का साहित्य कैसे पढ़ा पाता? उन्नीसवीं सदी में जो साहित्य लिखा गया, या 1920 में जो शायरी की गयी, उसका आज के आदमी के तजुर्बे से क्या ताल्लुक? अगर साहित्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत अनुभव से होता, तब तो एक आदमी की लिखी चीज दूसरा समझ ही न पाता। दो इनसान आपस में बात ही न कर पाते। भाषा और साहित्य व्यक्तिगत अनुभव की चीज नहीं, सामाजिक अनुभव की चीज हैं। सृजनशीलता व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक है; यह बुनियादी बात है।

आपके अनुभव का एक हिस्सा ऐसा हो सकता है, जिस तक मेरी पहुँच न हो, लेकिन आप अपने अनुभव के उस हिस्से की बात मुझसे कहते हैं, तो आपकी बात मेरी समझ में आ सकती है और मैं उससे कुछ सीख सकता हूँ। मसलन, मैंने नारीवाद से बहुत सीखा। मैं पाकिस्तान में रहता था। वहाँ फौजी तानाशाही आयी, तो में लुढ़कता-पुढ़कता पहुँच गया अमेरिका। वहाँ उस समय युद्ध-विरोधी एक जोरदार आन्दोलन चल रहा था; कालों का एक

जोरदार आन्दोलन चल रहा था। मैं उसमें शामिल हो गया, क्योंकि मैं युद्ध-विरोधी था और एशिया के मजलूम इनसानों में से एक था, जो यहाँ के हिसाब से भले ही गोरे या गेहुँए रंग के हों, पर गोरों की नजर में तो काले ही हैं। पाँच-सात बरस बाद वहाँ नारीवाद शुरू हुआ, तो पता चला कि तुम तो मर्द भी हो, बहुत जुल्म किये तुमने औरतों पर। तो, यह तो सही है कि औरत न होने के कारण मैं औरत का दुख-दर्द एक औरत की तरह महसूस नहीं कर सकता; दलित या आदिवासी न होने के कारण मैं एक दलित या आदिवासी के दुख-दर्द या उत्पीड़न को उसकी तरह से महसूस नहीं कर सकता; लेकिन औरत, दलित या आदिवासी के अनुभव का वह हिस्सा, जो उसका बिलकुल अपना है, बहुत छोटा हिस्सा है और उसके बारे में मैं किसी औरत, दलित या आदिवासी से पूछकर जान सकता हूँ। लेकिन अगर कोई कहता है कि आप मेरे अनुभव को समझ ही नहीं सकते, तो इसका जवाब मेरे पास बहुत कड़ा है। वह यह कि अगर मैं आपके अनुभव को समझ ही नहीं सकता हूँ, तो आप मुझसे हमदर्दी की कोई उम्मीद न रखें। जो चीज मेरी समझ में न आये, उसके बारे में मैं हमदर्दी कैसे दिखाऊँगा? अगर आपको मुझसे किसी हमदर्दी की उम्मीद है, तो आप मुझे समझाइए कि वह बात क्या है, जिसके बारे में आपको मेरी हमदर्दी चाहिए। सॉलिडेरिटी (एकजुटता) के लिए आपस में सम्प्रेषण होना, एक-दूसरे के अनुभवों को साझा करना, निहायत जरूरी है। और यह तमाम भिन्नताओं के बावजूद हो सकता है।

चूँकि आज सृजनशीलता के सन्दर्भ में नारीवाद और दलितवाद की चर्चा होने लगी है और वामपंथी या मार्क्सवादी लोगों की सहानुभूति इन दोनों आन्दोलनों से रही है, इसलिए हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि आज की परिस्थिति में इन आन्दोलनों की वास्तविकता क्या है। मैं एक ताजा उदाहरण आपके सामने रखता हूँ – गुजरात में अभी जो कुछ हुआ, उसमें लोगों ने देखा कि जब मुसलमान औरतों पर अत्याचार हो रहे थे, हिन्दू औरतें उन लोगों की भीड़ में शामिल थीं, जो मुसलमानों के घर लूट रहे थे, और उनमें पढ़ी-लिखी औरतें भी थीं। दूसरी तरफ उन दंगों में हिन्दू फासिस्टों का साथ दलित और आदिवासी भी दे रहे थे। अगर हम औरतों की सामूहिकता और एकजुटता की बात करते हैं, तो कायदे से हिन्दु औरतों को औरत होने के नाते मुस्लिम औरतों का साथ देना चाहिए था। और अगर हम दलितों-आदिवासियों को हिन्दु धर्म की वर्ण-व्यवस्था और उसके ब्राह्मणवाद के खिलाफ एकजुट समझते हैं, तो कायदे से गुजरात में उन्हें ब्राह्मणवाद और वर्ण-व्यवस्था के समर्थक भाजपा और आर.एस.एस. के लोगों के हाथों में नहीं खेलना चाहिए था। फिर, उत्तर प्रदेश में जो मायावती भाजपा से हाथ मिलाकर शासन कर रही है, वह तो औरत और दलित दोनों है। इस चीज को कैसे समझा जाये? आज के किसी भी सृजनशील लेखक को, जो गुजरात की हकीकत के बारे में या हिन्दुस्तान की हकीकत के बारे में लिखना चाहता है, इस चीज को समझना होगा।

मेरा कहना यह है कि फासिस्टों के जो 'स्टॉर्म ट्रपर्स' होते हैं, वे हमेशा गरीब-गुरबा और समाज के दुत्कारे हुए लोग होते हैं, जिनका अपनी जिन्दगी पर किसी तरह का अधिकार

नहीं होता और जिन्दगी के बारे में जिनके अन्दर बहुत गुस्सा होता है, जिनकी समाज में कोई जगह नहीं होती, जिन्हें अपनी अस्मिता की कोई समझ नहीं होती। फासिस्ट आन्दोलन के पूरे इतिहास में आप यह चीज देख सकते हैं और मुझे इस पर कोई ताज्जुब कभी नहीं हुआ। मैंने 1993 में एक मजमून लिखा था 'ऑन दि रूइंस ऑफ अयोध्या'। उसमें मैंने लिखा था कि यह सोचना गलत है कि आर.एस.एस. वाले दलितों में या आदिवासियों में अपनी जगह नहीं बना सकते। फासिस्ट आन्दोलन जितने ब्राह्मणवाद से पैदा हो सकते हैं, उतने ही नीची जातियों की राजनीति से। और ऐसे मौके आ सकते हैं, जब दोनों हाथ मिला लें। दूसरी बात उसी मजमून में मैंने यह लिखी थी कि जाति-व्यवस्था में सबसे ऊपर वाले का झगड़ा सबसे नीचे वाले से नहीं होता, बल्कि यह झगड़ा सोपानक्रम से होता है। यानी जो सबसे नीचे की सीढ़ी पर है, उसका झगड़ा अपने से ऊपर की सीढ़ी वाले से और ऊपर की सीढ़ी वाले का झगड़ा अपने से ऊपर की सीढ़ी वाले से होता है। फिर, एक झगड़ा एक ही सतह के या एक ही जाति के लोगों में आपस में भी होता है, जिनके हित अलग-अलग होते हैं। मसलन एक ही जाति के हैं, पर अलग-अलग क्षेत्रों के हैं, या अलग-अलग पार्टियों से जुड़े हुए हैं, या अलग-अलग वोट-बैंकों का हिस्सा हैं। ऐसे में यह सोचना गलत है कि सारी उत्पीड़ित जातियाँ मिलकर उत्पीड़क जातियों के खिलाफ, या ब्राह्मणवाद के खिलाफ, उठकर खड़ी हो जायेंगी। अगर आप इन्हें नहीं खड़ा कर पायेंगे, तो ये कभी खड़े नहीं होंगे। उनके अपने अनुभव से ऐसी कोई चीज नहीं निकलती। अत्याचार के अनुभव से सिर्फ बदला लेने की इच्छा पैदा होती है। लोग सोचते हैं कि जिन्होंने हम पर जुल्म किये हैं, उन पर हम भी जुल्म करें। ऐसे लोगों को बड़ी आसानी से बरगलाया जा सकता है। मसलन, भंगियों को भले ही सबसे नीचा समझते रहिए, उन पर जुल्म करते रहिए, उनका अपमान करते रहिए, लेकिन उनका इस्तेमाल करने के लिए कोई कहानी सुना दीजिए कि मुसलमान तो ऐसे होते हैं, ऐसा करते हैं, और आप तो बाल्मीकि हैं, रामायण तुमने ही लिखी है और रामराज्य लाने के लिए मुसलमानों को मारना जरूरी है, तो वे आपके भड़काने पर भड़क जायेंगे। साथ में उनकी थोड़ी-बहुत जरूरतें पूरी कर दीजिए, थोड़ा-बहुत आर्थिक आधार दे दीजिए, उनको एक 'सेंस ऑफ आइडेंटिटी' दे दीजिए, और थोड़ा 'मोबिलाइज' करके मुसलमानों को मारने-काटने के लिए कह दीजिए, तो वे चल पड़ेंगे।

मुझे बहुत रंज है, बहुत तकलीफ है इस बात की कि समाज की जिन परतों पर दरअसल वामपंथियों को काम करना चाहिए था – और वे परतें वाम का स्वाभाविक आधार थीं – और उन पर काम करके एक क्रांतिकारी आन्दोलन खड़ा किया जा सकता था, उन परतों पर वामपंथियों ने नहीं, बल्कि दक्षिणपंथियों ने काम किया; फासिस्टों ने काम किया। आज का जमाना सामूहिक राजनीति का जमाना है और समाज के विभिन्न समूह अपना राजनीतिकरण चाहते हैं। आप राजनीतिकरण नहीं करेंगे, तो दूसरे लोग करेंगे। कम्युनिस्ट यह काम नहीं कर पाये और आर.एस.एस. वालों ने यह काम कर दिखाया। कैसे कर दिखाया? आप सृजनशीलता की बात करते हैं, लेकिन आपसे ज्यादा सृजनशील वे हैं। फासिस्ट आतंक

भी सृजनशील हो सकता है। आर.एस.एस. के बारे में मेरा कहना है कि जो मसला 'लेफ्ट' (वाम) दुनिया में कहीं भी हल नहीं कर पाया, वह हिन्दुस्तान में आर.एस.एस. ने कर दिखाया। बुर्जुआ डेमोक्रेटिक सिस्टम (पूँजीवादी जनवादी व्यवस्था) को उखाड़ फेंकने का काम वाम का था। उसके लिए वाम की रणनीति क्या थी? यह कि एक वैनगार्ड (हरावल) पार्टी होनी चाहिए, एक मास पार्लियामेंटरी पार्टी (आम जनता का संसदीय दल) होनी चाहिए, जो आपका राजनीतिक उपकरण हो, और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए फ्रंट्स (मोर्चे) होने चाहिए। संगठन के ये तीन रूप हैं।

भारतीय वाम ने भी इन तीनों रूपों में अपना संगठन किया, लेकिन वह उतना प्रभावशाली नहीं रहा, जितना दक्षिणपंथियों और फासिस्टों ने कर दिखाया। आर.एस.एस. उनकी वैनगार्ड पार्टी है, भाजपा आम जनता के संसदीय दल के रूप में उनका राजनीतिक उपकरण है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए उनके हर तरह के फ्रंट्स हैं – औरतों के, मर्दों के, अनपढ़ों के, पढ़े-लिखों के, मजदूरों के, सफेद-पोशों के, सब तरह के और सब जगह आप इसे 'क्रिएटिव' (सृजनशील) कह लें या डायबॉलिकल (शैतानी या राक्षसी) कह लें, पर यह हुआ है और उन्होंने किया है। गुजरात में एक तरह से किया है, कर्नाटक में दूसरी तरह से किया है, उत्तर प्रदेश में तीसरी तरह से किया है, बंगाल में चौथी तरह से किया है, लेकिन किया है। और इसी का नतीजा है कि गुजरात से उत्तर-पूर्व तक – मध्यप्रदेश से होती हुई – एक लहर खिंच गयी है आदिवासी आर.एस.एस. की। जो लोग वाम के सहज-स्वाभाविक सहयोगी होने चाहिए थे, वे दक्षिण के समर्थक और सहयोगी बन गये हैं। यह फासीवाद के नाटक का पहला अंक है। लेकिन यह बहुत बड़ा नाटक है, जो होने जा रहा है। इसीलिए मैंने कहा कि दलितों - आदिवासियों पर जो जुल्म हुए हैं, उनका पूरा अहसास तो उन्हें कराना चाहिए लेकिन उन्हें 'रोमेंटिसाइज' नहीं करना चाहिए। उन्हें संगठित करना चाहिए, पर 'रोमेंटिसाइज' कभी नहीं करना चाहिए।

दस बरस पहले जब बसपा बनी थी और उत्तर प्रदेश की राजनीति में तरह-तरह की चीजें हो रही थीं, मैंने अपने वामपंथी दोस्तों से कहा था कि एक जगह जाकर ये बसपा और भाजपा वाले मिल जायेंगे, इसलिए दलितों को संगठित तो करो, पर इन्हें 'रोमेंटिसाइज' मत करो। आपने दलितों-आदिवासियों को 'रोमेंटिसाइज' किया – मानो इन पर जुल्म हुए हैं, तो या इसीलिए, ये बड़े क्रांतिकारी हैं और आपके साथ चलेंगे – लेकिन हुआ क्या? उनमें से बहुत-से आर.एस.एस के साथ चले गये, आपके साथ नहीं आये। मायावती ने या बसपा ने भाजपा से हाथ मिला लिया, तो वामपंथियों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यह सहज और स्वाभाविक था। धर्मनिरपेक्ष और जातिवाद-विरोधी वामपंथियों के विरुद्ध भाजपा और बसपा का एक हो जाना न आकस्मिक है न आश्चर्यजनक। बसपा जातिवाद को बनाये रखना चाहती है और भाजपा सम्प्रदायिकता को। साहित्य के क्षेत्र में अगर दलित लेखक वामपंथियों के साथ नहीं जा रहे हैं तो इस पर भी आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिए। दलित लेखन को भी तो आपने 'रोमेंटिसाइज' किया था। दलितों पर जुल्म हुए इसलिए वे जुल्म के खिलाफ लड़ेंगे

ही, यह कहीं लिखा नहीं है। उन्हें लड़ना चाहिए, यह अलग बात है। वे लड़ें, इसके लिए उन्हें संगठित करना चाहिए, 'रोमेंटिसाइज' नहीं करना चाहिए। और संगठित करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ये लोग अपने पर हुए जुल्मों की बात करते हुए चाहे ब्राह्मणवाद का विरोध करते हों या वर्ण-व्यवस्था वाले पूरे हिन्दू धर्म का, लेकिन मौका पड़ने पर हिन्दुत्ववादियों से हाथ मिला लेने में इन्हें कोई हिचक नहीं होगी, क्योंकि इनका अन्तर्विरोध भाजपा से उतना नहीं, जितना समाजवादियों से है। भाजपा के ब्राह्मण-बनियों से उतना नहीं, जितना झगड़ा इनका यादवों से है। गाँव देहात में दलित पर जुल्म ब्राह्मण-बनिया उतना नहीं करता, जितना यादव करता है। भाजपा वाले वहाँ एक क्षयशील भूस्वामी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि समाजवादी पार्टी उन्नतिशील भूस्वामी वर्ग का। अब, बसपा का रवैया यह है कि उन्नतिशील भूस्वामी वर्ग से अपना झगड़ा है, तो क्षयशील भूस्वामी वर्ग से हाथ मिला लो।

यहाँ मैं एक और बात कह दूँ – इतिहास किसी के पक्ष में नहीं होता। न वह मजदूर के पक्ष में होता है, न मालिक के पक्ष में; न वह दलित के पक्ष में होता है, न ब्राह्मण के पक्ष में। इतिहास उसका होता है, जो उसे बनाता है। एक बार इतिहासकार रामशरण शर्मा ने कहा था – वामपंथी अपनी राजनीति करें, इतिहास की जान छोड़ें; क्योंकि इतिहास में तो इनके पक्ष का भी बहुत कुछ निकल आयेगा, उनके पक्ष का भी बहुत कुछ निकल आयेगा। इतिहास से कुछ भी साबित किया जा सकता है। सवाल यह है कि कौन इतिहास बना रहा है; कौन उसे अपने हक में इस्तेमाल कर पा रहा है। उदाहरण के लिए, आप बँटवारे के इतिहास को देखें। हिन्दुस्तान में दो बड़े बँटवारे हुए थे – एक पंजाब का और एक बंगाल का। पंजाब का बँटवारा सबको याद रहता है, उस पर बहुत कुछ लिखा जाता है, फिल्में बनायी जाती हैं, लेकिन बंगाल का बँटवारा किसी को याद नहीं रहता। इसकी वजह यह नहीं है कि पंजाब पास है और बंगाल दूर है। वजह यह है कि पंजाब के बँटवारे का फायदा आर.एस.एस. ने उठाया, और बंगाल के बँटवारे से कम्युनिष्ट आन्दोलन निकला। शरणार्थी भारत में पश्चिमी पाकिस्तान से भी आये और पूर्वी पाकिस्तान से भी (जो बाद में बांग्लादेश बना) लेकिन पश्चिमी पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों में जैसी सांप्रदायिक भावनाएँ भरी गयीं, पूर्वी पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों में नहीं भरी जा सकीं। फिर जब पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे की सरकार बन गयी, वहाँ कोई सांप्रदायिक दंगा नहीं हुआ। लेकिन अब पिछले दस साल से, जब से ममता बनर्जी आर.एस.एस. के लोगों को लेकर देहाती इलाकों में जाने लगी हैं, वहाँ सांप्रदायिक भावनाएँ उभरने लगी हैं। हिन्दुओं पर मुसलमानों के अत्याचारों की कहानियाँ जो अभी तक सुनने में नहीं आती थीं, अब वहाँ भी सुनने में आने लगी हैं। एक नया इतिहास गढ़ा जाने लगा है और जो बंगाली मध्यवर्ग पहले से ही कम्युनिस्टों का विरोधी था, उसमें विश्वास करने लगा है।

दरअसल, स्मृति बहुत भरोसेमंद चीज नहीं होती, आदमी बहुत-सी बातें भूल जाता है, कुछ ही बातें याद रखता है। इसका मतलब यह है कि स्मृति 'सिलेक्टिव' (चयनात्मक) होती है। आप कुछ चीजें चुनकर याद रखते हैं, बाकी भूल जाते हैं। फिर, पुराने तथ्यों की नयी

व्याख्या करके और उसके आधार पर कहानियाँ गढ़कर फैलाने से स्मृतियाँ गढ़ी भी जा सकती हैं। पश्चिम बंगाल में यही हो रहा है। वहाँ मेरी कुछ छात्राएँ, जो बीस-बाईस बरस की हैं और एम.ए., पी.एच.डी. कर रही हैं, बताती हैं कि पहले हमने अपने घरों में कभी नहीं सुना कि हम पूर्वी पाकिस्तान से आये शरणार्थी हैं और वहाँ हम पर मुसलमानों ने जुल्म किये थे, लेकिन पिछले दस बरसों से हमारे घरों में ऐसी कहानियाँ सुनी-सुनायी जाने लगी हैं। अत: जिसे सामूहिक स्मृति कहते हैं, वह अपने-आप नहीं बनती, बल्कि बनायी जाती है। उसमें कुछ तथ्य दबा दिये जाते हैं, कुछ उभार दिये जाते हैं और उनकी ऐसी व्याख्याएँ कर दी जाती हैं, जो ऐसा करने वालों के राजनीतिक एजेंडे के मुताबिक हों। आर.एस.एस. इतिहास के पीछे क्यों पड़ा है? इसीलिए कि बच्चों को पाठ्यपुस्तकों में ऐसा इतिहास पढ़ाया जाये, जो उसके सांप्रदायिक और फासिस्ट मंसूबों को पूरा करे। इसीलिए वह वैज्ञानिक ढंग से लिखे जाने वाले इतिहास का विरोधी है। जो इतिहास वह पढ़ाना चाहता है, उससे जिस सामूहिक स्मृति का निर्माण वह करना चाहता है, उसका ऐतिहासिक तथ्य या तत्त्व से कोई लेना-देना नहीं है। तर्कसम्मत और विज्ञानसम्मत इतिहास उसके राजनीतिक हितों और उद्देश्यों के अनुकूल नहीं है, इसलिए वह अतार्किक, अवैज्ञानिक और सांप्रदायिक दृष्टि से व्याख्यायित किये गये कुछ चुने हुए तथ्यों को उभारना और बाकी तमाम तथ्यों को दबा देना चाहता है।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि सारी स्मृतियाँ चयनात्मक होती हैं और उसके चयन के पीछे वर्गीय दृष्टियाँ होती हैं, आर्थिक हित होते हैं, राजनीतिक उद्देश्य होते हैं। इसलिए सृजनशीलता के सन्दर्भ में जब अतीत, इतिहास, स्मृति या अनुभव की चर्चा हो, तो बहुत सजग रहा जाये और सावधानी बरती जाये।

(टेप किये गये वक्तव्य का सम्पादित रूप)

★★★★★

(एजाज अहमद का यह विचारोत्तेजक लेख 'सृजनशीलता हमेशा सामाजिक होती है' 'कथन' के अक्टूबर-दिसम्बर-2002 के अंक में प्रकाशित हुआ था। इस लेख के लिए हम समस्त 'कथन' परिवार के आभारी हैं।)